© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 7 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

# संस्कृत साहित्य में आचार्य, गुरू व अध्यापक

**डा. विभाष चन्द्र**

**प्रशिक्षित स्नातक शिक्षक**

**केन्द्रीय विद्यालय क्रम सं. - 2, गया (बिहार)**

शोध आलेख सार– परवर्ती युग में वेद या शास्त्र अथवा अन्य विषयों की शिक्षा देने वाले विद्वान् के लिए गुरू और आचार्य शब्द प्रचलित रहे, किन्तु उस अर्थ में उपाध्याय शब्द व्यवहृत नहीं रहा । यह (उपाध्याय) शब्द ब्राह्मणों के एक वर्ग की उपाधि बनकर रह गया । शिष्ट समाज में गुरू और आचार्य शब्द प्राय: समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, फिर भी आचार्य की गरिमा अधिक समझी जाती है । अत: शिक्षित समाज में विशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिए आजकल "आचार्य" शब्द बहुत प्रचलित है।

**मुख्य शब्द–** आचार्य, । गुरु, अध्यापक, उपाध्याय, शिष्य, उपनयन, संस्कार।

भारतीय परम्परा में महनीय अथवा पूजनीय अर्थ में "आचार्य" शब्द का प्रयोग होता है । गुरु, अध्यापक तथा उपाध्याय को भी आचार्य कहते हैं, किन्तु मनुस्मृति में आचार्य, उपाध्याय तथा गुरु – इन तीनों के लक्षण अलग–अलग दिये गये हैं । आचार्य का लक्षण देते हुए महर्षि मनु कहते है –

**उपनीय तु य: शिष्यं वेदमध्यायपेदद्विज: ।**

**सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।**[1]

अर्थात् शिष्य का उपनयन संस्कार करने के बाद उसे (शिष्य को) कल्प, (यज्ञविद्या) तथा रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद की विभिन्न शाखाओं को पढाने वाले विद्वान् (द्विज्) को आचार्य कहते हैं ।

सृष्टि के आदि काल में प्रजापति ने मनुष्यों की रचना की। उन मनुष्यों को जीवन यापन तथा विकास और समृद्धि के लिये आवश्यक वस्तुओं की अपेक्षा थी जिनसे उन्हें इच्छित भोग प्राप्त हो सके। प्रजापति ने मनुष्यों को इच्छित भोग प्रदान करने के लिए यज्ञविद्या की रचना । ब्रह्मा ने मनुष्यों से कहा कि तुमलोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो और यह यज्ञ तुमलोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो ।[2] यह यज्ञ लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के साथ पारलौकिक सुख देने वाला भी होता था । वेदाध्ययन का प्रधान उद्देश्य यज्ञ का सम्पादन करना था –

**अग्निहोत्रफला वेदा: शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।**

**रतिपुत्रफला दारा दत्तमुक्तफलं धनम् ।।**[3]

अध्यापक अथवा उपाध्याय का लक्षण करते हुए मनु कहते है –

**एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ।**

**योध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ।।**[4]

अर्थात् वेद के एक भाग–मन्त्र तथा व्याकरण, शिक्षा एवं ज्योतिष आदि वेदांगों को जो विप्र या विद्वान् आजीविका के लिये पढाये उसे उपाध्याय कहते हैं ।

प्राचीन काल में शिक्षण का विषय वेद ही था । इसी का अध्ययन और अध्यापन होता था । वेद के कठिन अर्थ को स्वयं समझ लेने वाले ऋषिगण "साक्षात्कृतधर्मा" कहलाते थे । बाद के समय में लोगों में यह सामर्थ्य कम हो जाने पर उन ऋषियों ने अपने से अल्प ज्ञान वाले मनुष्यों को मन्त्रों के अर्थों का उपदेश दिया । कुछ समय के पश्चात् उन अर्थों को भी ग्रहण करने में असमर्थ जनों को वेद का ज्ञान कराने के लिए निरुत्त एवं व्याकरण आदि वेदाङ्ग रचे गए। [5]

प्राचीन युग में याज्ञवल्क्य आदि कुछ ऋषि आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के कारण ब्रह्माचारी बालकों को अपने आश्रम में लाकर उसका उपनयन संस्कार करने के बाद उसे वेदों की शिक्षा देते थे । दूसरी ओर जो आर्थिक रूप से सम्पन्न नहीं थे वे वेदज्ञानी आजीविका के लिए वेद के एक भाग और व्याकरण तथा ज्योतिष आदि शास्त्रों को छात्रों को पढ़ाया करते थे वे उपाध्याय कहलाते थे ।

वैदिक काल में स्त्रीशिक्षा उन्नत स्थिति में थी। बहुत सी स्त्रियाँ थी जो न केवल वेदज्ञान में प्रौढ़ थी, अपितु वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार (रचना) भी करती थीं । ऐसी ऋषिकाओं में घोषा[6], जुहू[7], अपाला[8], लोपामुद्रा[9] तथा विश्ववारा[10] आदि उल्लेखनीय हैं । ये सभी ऋषिकाएँ तपःपूत ऋषियों की पत्नियाँ थीं । महर्षि पाणिनि ने दो प्रकार की ऋषि–पत्नियों का विवेचन किया है । कुछ स्वयं अध्यापिका और व्याख्यात्री थीं तो कुछ अध्यापक ऋषियों की पत्नियाँ थी। महर्षि पाणिनि ने **"इन्द्रवरुणभवशर्वरूद्रमृडहिमारण्यपवयवनमातुलाचार्याणामानुक्"**[11] इस सूत्र में इसके लिए कुछ नियम बताये हैं । उनके अनुसार उपाध्याय की पत्नी इस अर्थ में उपाध्याय शब्द में "आनुक" एवं "ङीष्" प्रत्यय होने पर उपाध्यायी शब्द बनता है । तात्पर्य है कि उपाध्याय की स्त्री "उपाध्यायानी" तथा "उपाध्यायी" कहलाती है, जब स्वयम् अध्यापन करने वाली हो तो उपाध्यायी– उपाध्याया पद प्रयुक्त होता है । इसी तरह आचार्य की स्त्री "आचार्याणी" कही जाती है, जो स्वयं पढ़ाती हैं वे "आचार्या" कही जाती है –

**या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः ।**

उपाध्यायी–उपाध्याया । "आचार्यादणत्वञ्च" (वा. 2477) । आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी । पुंयोग इत्येव । आचार्या स्वयं व्याख्यात्री ।[12]

महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने वाली महिलायें आज भी "आचार्या" कही जाती हैं । आधुनिक समय में महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में वरीय प्राध्यापक जो प्रोफेसर (Professor) होते हैं, उन्हें 'आचार्य' कहा जाता है । दूसरे शब्दों में अंग्रेजी के (Professor) शब्द की हिन्दी आचार्य है । परम्परागत ज्ञान में वैदुष्य–प्राप्त तथा कथावाचक विद्वान् भी आचार्य कहे जाते हैं । परम्परागत शिक्षण के लिये सञ्चालित संस्कृत महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा विद्यार्थियों को आचार्य की उपाधि प्रदान की जाती है ।

महर्षि यास्क ने "आचार्य" शब्द का निर्वचन तीन रूपों में किया है –

1– **आचार्यः आचारं ग्राहयति**[13] अर्थात् आचार्य वह है जो अच्छे वातावरण की शिक्षा देता है । परम्परागत उपदेश देता है अथवा अपने सदाचरण के माध्यम से लोगों को वैसा करने के लिए प्रेरित करता है ।

2- **आचिनोति अर्थान्**[14] अर्थात् शब्द के अर्थों का चयन करता है । शब्द के नये-नये अर्थों को प्रकाश में लाता है और लोगों को उसके नवीन स्वरूप से परिचित कराता है ।

3- **आचिनोति बुद्धिमिति वा** [15] शिष्यों की बुद्धि को विकसित करता है ।

आचार्य शब्द के इन तीन निर्वचनों को इस रूप में कहा गया है -

**आचिनोति हि शब्दार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।**

**स्वयमाचरेत् यस्मात् आचार्यः परिकीर्तितः ।।**

गुरू का लक्षण करते हुए मनु कहते है -

**निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।**

**सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरूरूच्यते ।।**[16]

अर्थात् शास्त्रविधि के अनुसार जो गर्भाधान आदि संस्कारों को सम्पादित करता है और अन्न से उसे पोषित करता है, वह ब्राह्मण गुरू कहा जाता है ।

यहाँ गुरू का जो लक्षण दिया है, उसमें शिक्षा या ज्ञान देने की बात नहीं कही गयी है, जातकर्म आदि संस्कारों को विधिपूर्वक सम्पन्न कराने वाले पुरोहित होते हैं तथा सम्पन्न करने वाले तो बच्चे के पिता है तथा अन्न से बच्चे का पालन-पोषण भी पिता ही सामान्यतः करता है । अतः इस लक्षण के मुताबिक पुरोहित और पिता को गुरू कहते है ।

पिता के लिए "गुरू" शब्द का प्रयोग महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य "रघुवंश" में किया है -

**न केवलं तद्गुरूरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनूर्धरोऽपि सः।**[17]

अर्थात् उन (रघु) के पिता (दिलीप) केवल चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे, अपितु अद्वितीय धनुष चलाने वाले भी थे।

किसी भी श्रद्धेय या आदरणीय पुरुष अथवा स्त्री एवं बुजुर्ग के लिए भी महाकवि कालिदास "गुरू" शब्द का प्रयोग करते है -

**शुश्रूषस्व गुरून् कुरू प्रियसखीवृत्तिं स पत्नीजने ।**[18]

**आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।** [19]

'गुरू-शिष्य' में सामासिक प्रयोग होने पर अध्यापक या शिक्षक अर्थ होता है। साथ ही कुलपुरोहित एवं आध्यात्मिक उपदेशक वशिष्ठ आदि को भी गुरू कहा गया है । कालिदास का कथन है -

**तौ गुरूर्गुरूपत्नी च प्रीत्या प्रतिनन्दतुः ।**[20]

महर्षि याज्ञवल्क्य गुरू का लक्षण देते है -

**स गुरूर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।**[21]

अर्थात् गुरू वह होता है जो (उपनयन तक की) क्रियायें करके इस (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान देता है। इससे व्यक्त होता है कि गर्भाधान से लेकर बाद के संस्कारों का सम्पादन करते हुए उपनयन संस्कार करने के बाद वेद का ज्ञान ब्रह्मचारी शिष्य को देने वाले विद्वान् को "गुरू" कहा जाता है ।

इससे कुछ अलग अर्थात् उपनयन संस्कार करके वेद का ज्ञान प्रदान करने वाले को आचार्य कहते है -

**उपनीय ददद्वेदमाचार्य: स उदाहृत: ।**[22]

वेद के एक भाग या वेदाङ्ग की शिक्षा देने वाले को उपाध्याय कहते हैं। संस्कारों को सम्पन्न करने तथा शिक्षा देने में पिता की महती भूमिका होने के कारण उन्हें (पिता को) भी गुरू की कोटि में गिना गया है। उपाध्याय, आचार्य और पिता की तुलना श्रेष्ठता की दृष्टि से करते हुए महर्षि मनु कहते हैं कि उपाध्याय से दस गुना आचार्य तथा आचार्य से सौ गुना पिता श्रेष्ठ होता है, किन्तु पिता से भी सहस्रगुनी माता श्रेष्ठ बतायी गई है –

**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।**

**सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।**[23]

वास्तव में बच्चे के जन्म से लेकर उसके सम्पूर्ण विकास तक माता का स्थान अतुलनीय है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्मृतिकाल में गुरू, उपाध्याय तथा आचार्य ये सभी वेद के ज्ञाता होते थे और ब्रह्मचारी वटुओं को वेद का ज्ञान देते थे, फिर भी कार्य–सम्पादन करने की दृष्टि से उनमें कुछ भिन्नता होती थी ।

परवर्ती युग में वेद या शास्त्र अथवा अन्य विषयों की शिक्षा देने वाले विद्वान् के लिए गुरू और आचार्य शब्द प्रचलित रहे, किन्तु उस अर्थ में उपाध्याय शब्द व्यवहृत नहीं रहा । यह (उपाध्याय) शब्द ब्राह्मणों के एक वर्ग की उपाधि बनकर रह गया । शिष्ट समाज में गुरू और आचार्य शब्द प्राय: समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, फिर भी आचार्य की गरिमा अधिक समझी जाती है । अत: शिक्षित समाज में विशिष्टता की अभिव्यक्ति के लिए आजकल "आचार्य" शब्द बहुत प्रचलित है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से गुरू शब्द का अर्थ–विस्तार हो गया है और अशिक्षित एवं अपराध–जगत् में इसका अर्थ उत्कृष्ट के विपरीत हो गया है। "आचार्य" शब्द गरिमापूर्ण अर्थ में आज भी व्यवहृत होता है । उपनिषद् में कहा गया है –

**आचार्यदेवो भव ।**[24]

इति शम् ।।

सन्दर्भ सूची –


1. मनुस्मृति – 2/140
2. गीता 3/10
3. सूत्तिफरत्नाकर
4. मनुस्मृति 2/141
5. यास्क – निरुक्त, प्रथम अध्याय के अन्तिम भाग में ।
6. ऋग्वेद 10/39,40 का साक्षात्कर्त्री
7. ऋग्वेद 10/109
8. ऋग्वेद 8/91
9. ऋग्वेद 1/179
10. ऋग्वेद 5/28
11. अष्टाध्यायी 4/1/49

12. सिद्धान्त कौमदी – सू. 506 की व्याख्या
13. निरुक्त 1/2
14. निरुक्त 1/2
15. निरुक्त 1/2
16. मनुस्मृति 2/142
17. रघुवंश 3/13
18. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/18
19. रघुवंश 14/46
20. रघुवंश 1/59
21. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/34 पूर्वार्द्ध
22. याज्ञवल्क्यस्मृति 1/34 उत्तरार्ध
23. मनुस्मृति 2/145
24. तैत्तिरीयोपनिषद 1/11/2